सामाजिक हिंसा संवैधानिक न्यायः भारत में दलित प्रश्न का पूर्नमूल्यांकन

*डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा

दक्षिण एशिया में ही नही पुरे विश्व पर नजर डाली जावे तो कहीं काले, कहीं यहूदी कहीं श्रमिक, कही आदिवासी और संसार में दोयम दर्जे पर खड़ी अधिसंख्य औरतें दिखाई देगी। सब जगह एक गहरा विभाजन, दिखाई देता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस विभाजन के समाप्त होने और किसी समन्वय की सम्भावना है? भारत में जाति विभाजन, क्या सर्वण और त्याज्य को मिलने देगा? हर मुद्दे पर सर्वण और दलितों में अलग–अलग रुख दिखाई देते है। ये सामाजिक विभाजन की त्रासदियों और परिणाम के शुभ संकेत की और तो ईशारा नहीं करते है।

ये विभाजन संविधान की अनुसूचित जाति, जन जाति, पिछड़े वर्ग की सूचियां नहीं समझा सकती क्योंकि भारतीय संविधान पर यह आरोप अनेक लोगों द्वारा लगाया जाता रहा है कि भारत के संविधान का निर्माण उच्च वर्ग के लोगों ने किया। अम्बेडकर तो एक रियायत थे जिन्हें सवर्णों की जमात में कुछ कहने का मौका मिला।

यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पिछले दशक से इस विषय पर बोला लिखा और कहा जाने लगा है तो यह भारतीय संविधान द्वारा स्थापित कानून का ही परिणाम है जिसने व्यवस्था के विरुद्ध शिकायतें करने का साहस लोगों को दिया हैं।

दलितों के प्रश्न पर देश की अधिसंख्यक पार्टिया केवल बगले झाँकती है (या) यों कहे कि वोट की राजनीति से ग्रसित हैं। सही को सही कहने के स्थान पर 'दलित' के नाम का उपयोग करना चाहती रही है।

सामाजिक हिंसा और संवैधानिक न्याय : भारत में दलित प्रश्न का पुनर्मूल्याकन

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना जाति–व्यवस्था पर आधारित रही है। इस व्यवस्था ने संदियो तक समाज को ऊँच–नीच, शुद्ध–अशुद्ध, वर्णक्रम में बौटकर अनेक वर्गों को उत्पीडित किया। इसमें दलित वर्ग सबसे अधिक सामाजिक हिंसा और अपमान का शिकार रहा है। स्वतन्त्र्योत्तर भारत में संविधान ने इस अन्याय पूर्ण परम्परा को समाप्त करने का संकल्प लिया तथादि संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद समाज में सामाजिक हिंसा के रूप बदल रहे है यह शोधपत्र इसी बात का विश्लेषण करता है कि क्या भारतीय संविधान द्वारा प्रदत न्याय प्रणाली दलितों के लिए वास्तविक सामाजिक समानता सुनिश्चित करने में सक्षम हो सकी है या नहीं। हिंसा के विविध प्रकारों से दलितों को मुक्ति दिला पाई है।

हिंसा का सामाजिक संरचनात्मक रूप–

हिंसा का अर्थ शारीरिक आक्रमण ही नहीं होता बल्कि जब किसी समूह को उसके मूल अधिकारों से वंचित रखा जाता है तो वह हिंसा का ही रूप है। दलित को शिक्षा, भूमी, रोजगार और सम्मान के अवसरों से वंचित रखना, सामाजिक हिंसा का ही विस्तार है। यह हिंसा आज भी मानसिक और सांस्कृतिक स्थिर पर भारत में व्याप्त

है, कई बार अखबारें में इसके प्रमाण दूल्हे को घोडी से उतार कर पिटा–जाना, मंदिर प्रवेश से रोकना, उदाहर देश में देखे जा सकते है।

भारतीय संविधान का दृष्टिकोण– भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस ऐतिहासिक अन्याय को मध्यनजर रखते हुए कई विशेष प्रावधान किये जिनमें अनुच्छेद 14 से 18 तक समानता का अधिकार। अनु. 17– द्वारा अस्पृश्यता का उन्मूलन, अनुसूचित जातियों के लिए समान अवसर से आरक्षण अनु. 46 में नीति निर्देशक सिद्धान्तों में कमजोर वर्गो के शैक्षणिक और आर्थिक हितों की रक्षा। ये प्रावधान भारतीय लोकतंत्र को सामाजिक न्याय की दिशा को एक नैतिक आधार प्रदान करते है।

देश में जारी वर्तमान दौर में अम्बेडकर भी एक बौद्धिक मिथक है, जिन्हें दलित भी भुनाना चाहते है और सर्वण भी। परन्तु इस बौद्धिकता में गम्भीरता का दिखाई न देना एक और त्रासदी है जो त्याज्यों एवं सम्पन्नों को भी अपनी स्थिति बदलने नही देती है। 'दलितों' के लिए आरक्षण सम्पूर्ण और दोष रहित नहीं है, तो भी यह राजनैतिक मतैक्य के प्रायः समीप है।

हिंसा–

प्राणी की हत्या मात्र ही हिंसा नहीं है, हर शोषण, हर उत्पीड़न को भी हिंसा माना गया है। तन की हिंसा से मन की हिंसा अधिक भयंकर होती है। हिंसा का अपना विस्तृत इतिहास व दर्शन है। यहाँ मैं हिंसा के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा करता हूँ हिंसा के स्वरूप को तीन प्रकार से देखा जा सकता है–

(1) धार्मिक हिंसा– जो धर्म के नाम पर पशु–बली, यज्ञ, तथा (दलित) शुद्धो के मानवीय अधिकारों का हनन (देव पूजा का निषेध) और उनके अपमान रूप में प्रचलित है।

(2) राजनीतिक हिंसा– युद्ध, आक्रमण, सीमा संघर्ष, आतंक, चरित्र हनन तथा आरोप प्रत्यारोप आदि राजनीति हिंसा में समाविष्ट है।

(3) सामाजिक हिंसा– वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए शोषण, उत्पीड़न, मर्यादाहीनता, जाति–वर्ण भेद, अस्पृश्यता, दास–प्रथा, बेगार प्रथा आदि समाज में हिंसा की परिणीति के मापदण्ड है। देश में व्याप्त जातिगत अत्याचार संविधान की खिल्ली उड़ाते हैं। आज देश को सामाजिक संघर्ष और सांस्कृतिक संकट का सामना करना पड़ रहा है। हर आरक्षण का नवीकरण हिंसा के व्यापक दौर से गुजरा है जिसका प्रभाव आर्थिक विकास और राष्ट्रीय एकीकरण दोनों पर ही नकारात्मक पड़ता है।

उना कांड 2016 गुजरात में कुछ दलित युवकों को गौ हत्या के झूठें आरोप में सार्वजनिक रूप से पीटा गया। ये घटना सामाजिक हिंसा ही नहीं बल्कि सामाजिक मूल्यों के प्रति अवमानना का प्रतीक थी। ये घटना स्पष्ट करती है कि समाज में समानता के आदर्श को अपनाने में काफी लम्बा वक्त लगेगा।

हाथरस प्रकरण उत्तर प्रदेश 2020– दलित महिला के साथ दुष्कर्म और उसकी मृत्यु ने प्रश्न खड़ा कर दिया था कि संविधान द्वारा प्रदत्त समानता अधिकार केवल कागजी है। इस मामलें में प्रशासन व पुलिस की भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगे जिसमें यह स्पष्ट हुआ कि कानून की उपस्थिति के बावजूद न्याय तक पहुँच पाना संभव नहीं है। ये घटनाऐं स्पष्ट कर देती है कि संवैधानिक न्याय की सफलता कानून पर नहीं समाज की चेतना पर निर्भर करती है। विधिक प्रावधानों पर जब तक समाज स्वयं समानता, सम्मान की भावना से प्रेरित नहीं होगा तब तक हिंसा के विविध रूप समाप्त नहीं हो सकते हैं। वास्तविक न्याय तभी सम्भव है जब संविधान की भावना केवल

विधानों में नहीं, समाज के आचरण में परिलक्षित नहीं होती संविधान दलितों के सशक्तिकरण के लिए से संस्थागत सुरक्षा कानूनी समानता भी देता है। संसद विधानसभाओं, पंचायत राज में आरक्षण, अनुचित आयोग की स्थापना तथा न्यायिकपालिका द्वारा अपने विविध निर्णयों में संवैधानिक व्याख्याओं द्वारा इस प्रक्रिया को मजबूती प्रदान की है। तथापि सामाजिक, मानसिक परिवर्तन अभी भी अपेक्षित है।

आज भी समाचार–पत्रों में दलित विरोध, हिंसा की घटनाएँ आती रहती है– यह इसबात का प्रमाण है कि– संवैधानिक मूल्यों का व्यावहारिक क्रियान्वयन अधुरा है संविधान दिशा दिखाता है परन्तु समाज को उस दिशा में चलने की नैतिक जिम्मेदारी स्वयं को उठानी होगी।

भारतीय संविधान दलितों के लिए एक कानूनी दस्तावेज नहीं बल्कि सामाजिक क्रांति का घोषण पत्र है। उसने हिंसा, भेद–भाव, अन्यास के विरुद्ध एक आदर्श समाज की परिकल्पना थी। भारतीय समाज में हिंसा केवल शारीरिक अप्रत्यक्ष रूप में ही नही बल्कि सामाजिक आधार और सांस्कृतिक रूपों में भी गहराई से विद्यमान रही है। संविधान के माध्यम से समानता न्याय स्वतंत्रता के आदर्शो से इस हिंसांगत ढाँचे को चुनौति दी विशेषकर दलित समुदाय के संदर्भ में, इस शोध अध्ययन में इस बात का विश्लेषण किया गया है कि भारतीय संविधान ने किस प्रकार दलितों के प्रति हो रही संरचनात्मक हिंसा को समाप्त करने का प्रयास किया? अपितु सामाजिक न्याय की दिशा में किन संवैधानीक प्रावधानों में ऐतिहासिक परिवर्तन की नींव रखी है। एक आदर्श समाज की परिकल्पना की, इस हिंसा का मूल कारण वह असंतोष है जो निम्न और उच्च जातियों में आरक्षण के बावजूद व्याप्त है।

अनुसूचित जातियो।/जन जातियों में आक्रोश इस लिए व्याप्त है कि आरक्षण व्यवस्था को केवल नाम मात्र के लिए लागू किया गया। आरक्षण व्यवस्था सम्बन्धी आदेशों का पालन बड़े विलम्ब से और झिझक–झिझक कर किया जाता रहा। चाहे वह आरक्षण भर्ती के समय हो या पदोन्नति के समय। यही नहीं भर्ती के समय बहुत से उम्मीदवारों को किसी न किसी बहाने अस्वीकार कर ही दिया जाता है यद्यपि उनके लिए आरक्षित स्थान खाली पड़े रहते हैं।

जनसंख्या के अनुपात में प्रथम श्रेणी नौकरियों में आरक्षित स्थान 23 प्रतिशत है जबकि इन पदों पर लगभग 13 प्रतिशत व्यक्ति ही पांच दशक से जारी आरक्षण के बाद ही पहुँच पाये है। अर्थात 10 प्रतिशत प्रथम श्रेणी आरक्षित पद अब भी रिक्त है। कई सवर्ण जाति के प्रथम श्रेणी अधिकारी उन्हें अयोग्य और अकुशल समझते हैं।[1] उनके प्रति व्यवहार इसी भावना, मनोवृत्ति के अनुरूप किया जाता हैं।

अधिकांशतः यह व्यवहार संविधान की भावना और प्रावधानों के सर्वथा विपरित है। इस बात की और भी यह संकेत है कि व्यस्क मताधिकार, अस्पृश्यता उन्मूलन और दलितोधार के सांविधानिक आश्वासनों के बावजूद जातिप्रथा उस पर आधारित सामाजिक विषमता और अन्याय में कभी अवश्य आयी है, किन्तु समाप्त नहीं हो सका है। ये सामाजिक हिंसा और अन्याय के प्रतीक है।

दूसरी ओर आरक्षण के परिणाम स्वरूप उच्च जातियों के मन में अनुसूचित जातियों और जन जातियों के प्रति द्वेष भावना पनपने लगी (उनके वर्ग का एक बच्चा 80 प्रतिशत अंको के पश्चात भी व्यावसायिक और तकनीकी संस्थानों में प्रवेश लेने से वंचित हो जाता है जबकि आरक्षित वर्गो के 40 प्रतिशत अंक वाले बच्चे को भी प्रवेश मिल जाता हैं वे आरक्षण का विरोध करने लगे हैं, मण्डल कमीशन की रिर्पोट प्रस्तुत किये जाने पर देश के अनेक स्थानों पर हिंसा हुई। किन्तु इस आदर्श की प्राप्ति तभी सम्भव है जब राज्य समाज, और व्यक्ति – तीनों स्तरों पर संवैधानिक नैतिक आचरण को व्यवहार में उतारा जाए।

संवैधानिक न्याय, दलित, सामाजिक हिंसा, समानता, सामाजिक न्याय भारतीय संविधान की नीव के पूर्ण

स्तम्भ है। जिसका प्रमुख उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करता है जिसमें न्याय, समानता, कानून का शासन हो। किन्तु भारतीय समाज की ऐतिहासिक जातिप्रथा की विकृति ने दलित वर्गों को न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सामाजिक रूप से भी हिंसा, शोषण, भेदभाव का शिकार बनाया। यह आलेख ऐसी समझ उत्पन करने का कार्य करेगा को संवैधानिक न्याय की प्रभावशीलता को प्रस्थापित कर सके, समाज शास्त्रीय सन्बंधों की समझ विकसित श्रेष्ठ दृष्टि उत्पन्न करने में योगदान देगा।

अनुसंधान के उद्देश्य–

(1) भारतीय संविधान में नीहित सामाजिक न्याय की अवधारणा को समझना।

(2) दलित वर्ग के संदर्भ में हिंसा के विविध रूपों का विश्लेषण करना।

(3) संवैधानिक प्रावधानों और वास्तविक सामाजिक परिवर्तन के बीच सम्बन्ध स्थापित करना।

(4) संविधान द्वारा प्रदत न्याय व्यवस्था की सीमाओं का मूल्यांकन करना।

वास्तविक धरातल पर सेवाओं में आरक्षण के विरुद्ध रोषपूर्ण आंदोलन चले।[2] वी. पी. सिंह सरकार के निर्णय के प्रश्चात (1990) ये आंदोलन अखिल भारतीय स्तर पर भी पहुँच गये। जबकि मण्डल आयोग का सम्बन्ध अनुसूचित जाति और जन जाति से न होकर अन्य पिछड़े वर्गों से था। परन्तु आंदोलन कर्त्ताओं का लक्ष्य आरक्षण व्यवस्था की समाप्ति अथवा उसके आधार में परिवर्तन था। आरक्षण का विरोध मूलतः गुणवत्ता, योग्यता, और कुशलता के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया।

आज भी भारतीय समाज में आरक्षण एक विवादास्पद मुद्दा हैं। जो राजनैतिक दलों में एकत्व हैसमाज के सौहार्द्ध को लील रहा है इस पर पुनः विचार की आवश्यकता है। यहाँ प्रश्न उठता है, आरक्षण क्यों होना चाहिए? किसके लिए होना चाहिए? कितना होना चाहिए? कब तक होना चाहिए, किन क्षेत्रों तक इसे सीमित रखा जाना चाहिए और क्यों?

आरक्षण की सांविधानिक व्यवस्था

आरक्षण समाज के पिछड़े एवं दुर्बल वर्गों के उत्थान के लिए किया गया साधन है। संविधान निर्माताओं ने राजनीतिक मुक्ति के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक शोषण से मुक्ति का ध्येय भी रखा और इसे संविधान में स्थान दे दिया गया। संविधान के अनु. 16(4) मूल प्रारूप में नागरिकों के किसी भी वर्ग के लिए आरक्षण की बात नहीं रखी गयी थी परन्तु अम्बेडकर ने इसके साथ 'पिछडे' शब्द जुड़वा दिया ताकि आरक्षण की शर्त और दशा कुछ स्पष्ट हो सके।[4] बाद में संविधान सभा के वाद–विवादों में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'नागरिकों के पिछड़े वर्गों से आशय मुख्यतः उन जातियों और जनजातियों से था जो प्रत्येक राज्य में जातियों की स्थिति के आधार पर दो अनुसूचियों में श्रेणीबद्ध थी और संविधान के अनुच्छेद 341 व 342 के अन्तर्गत उद्घोषित थीं।

संविधान के अनुच्छेद 15, 16, 29, 38, 46, 330 332, 334 और 335 के आधार पर भारतीय राज्य को "संरक्षणात्मक विभेदीकरण" (Protective circriminalim) का ढांचा प्रदान किया गया। जिसके अन्तर्गत समतावादी समाज निर्माण हेतु पिछड़े वर्गों को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया था।

अनुसंधान कार्य विधि

यह शोध–पत्र वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें द्वितीयक स्त्रोती जैसे संविधानकी धाराएँ, न्यायिक निर्णय, भारतीय सामाजिक अध्ययन तथा राष्ट्रीय अपराध, अभिलेख, रिपोटों का विश्लेषण किया गया है। संवैधानिक विधि के मध्यनजर संक्षिप्त न्यायिक निर्णयों के प्रकाश में दिव्यता दृष्टिगोचर होती है।

विश्लेषण– भारतीय समाज को हिंसा केवल दमन/अत्याचार वक ही सीमित नहीं रही। जब किसी समाज को शिक्षा सम्पत्ति, अवसर, समानता से वंचित रखा जाता है– तो वह संरचनात्मक हिंसा का रूप ले लेता हैं। प्राचीन भारत के एक काल खण्ड में दलित वर्ग इसका सबसे बड़े शिकारी रहे हैं।

भारत में संवैधानिक न्याय की परिकल्पना– अनुच्छेद 14 से 18 में समानता और न्याय की मूल भावना नीहित है। अनुच्छेद–17 अस्पृश्यता को अपराध घोषित करता है जो अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संरक्षण प्रदान करता है। संविधान मे यह सुनिश्चित किया है कि कोई भी नागरिक जाति, धर्म, भाषा, रंग, लिंग जैसे प्रभेद का शिकार न बने।

भारतीय संविधान के अनु. 46 में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि– राज्य कमजोर वर्गों विशेषतः अनुसूचित जातियों और जन जातियों के सामाजिक और शिक्षा व आर्थिक हितों को खासतौर पर प्रोत्साहन देगा तथा उन्हें सामाजिक अन्याय व समस्त प्रकार के सामाजिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करेगा। अर्थात भारतीय संविधान में आरक्षण की सुविधा सामाजिक और शैक्षणिक तौर पर पिछड़ी जातियों और जन जातियों के लिए रखी गयी थी जो संविधान के अनु. 341 और 342 में अनुसूचित की गयी थी। इन जातियों को सामाजिक, शैक्षिक अवस्थित आधार पर आयोग द्वारा चिन्हित किया गया था। मूलतः आरक्षण का आधार पिछड़ा पन था। संविधान यह भी स्पष्ट करता है कि आरक्षण उन लोगों के लिए होना चाहिए जिन्हें राज्य की सेवा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल सका। संविधान के अनु. 335 में यह स्पष्ट किया गया है कि सरकारी नौकरियों में आरक्षण के दावें में प्रशासनिक कुशलता को कायम रखते हुए क्रियान्वित किया जाएगा। अतः यह स्पष्ट ही हैं कि आरक्षण की संख्या सीमित रखी जानी थी क्योंकि आरक्षण एक निश्चित स्तर से कम योग्य ऐसे व्यक्तियों के लिए रखा गया था जो खुली प्रतियोगिता में उन स्थानों तक पहुँचने में असमर्थ थे।[7]

अपने तर्क की प्रकृति से आरक्षण छोटे स्थानों पर होना था। इसी कारण संविधान अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के अनुपात में क्रमशः 15 प्रतिशत और 7.5 प्रतिशत यानी कुल 22.5 प्रतिशत का प्रावधान करता है। यह प्रतिशत सभी प्रकार के आरक्षणों (राजनैतिक, शैक्षिक, रोजगार सम्बन्धी) पर लागू होता है।

भारतीय राजनीतिक में आरक्षण संविधान के अनु. 330, 332 एवं 334 में उल्लेखित है। शैक्षिक आरक्षण संविधान अनु. 15(4) और 29 तथा नौकरी सम्बन्धी आरक्षण संविधान अनुच्छेदों में 6(4) 320(4) और 335 में समाविष्ट है। संविधान के अनु. 15,16, 38, 46, 164, 275, 330, 332, 334, 335, 338, 340, 341, 342 और 366 में सार्वजनिक सेवाओं शैक्षिक संस्थाओं और व्यवस्था पिकाओं में स्थान आरक्षित करने के अनुमति दी गई है।

नोट– इससे यह ध्वनित होता है कि अधिसंख्या में अगर आरक्षण किया जाता है, तो संविधान एवं आरक्षण का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है तथा 'अवसर की समानता' के सांविधानिक प्रावधान का भी निरादर ही होगा।

संवैधानिक न्याय की चुनौति है कि समानअधिकारों के बावजूद सामाजिक स्तर पर भेदभाव अब भी मौजूद है। न्यायपालिका ने अनेक निर्णयों में दलित अधिकारों को बल प्रदान किया है। जिसमें भेदभाव का निषेध अनुच्छेद–14 समानता का अधिकार, अनुच्छेद 15 अस्पृश्यता का उन्मूलन अनु. 17 प्रमुख है।

इन अनुच्छेदों की व्याख्याओ ने संविधान में सामाजिक न्याय के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। चंपकम दौरे राजन बनाम तमिलनाडु राज्य 1951 इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय समानताले अधिका और राज्य द्वारा आरक्षण की नीति के बीच संतुलन की व्याख्या की है इस केस में संविधान के भाग III मौलिक अधिकार और भाग IV राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत के बीच सांमजस्य की नींव रखी।

इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ 1992 इसे मण्डल आयोग सके नाम से जाना जाता है। इस निर्णय ने सामाजिक, शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग के लिए अधिकार को वैध ठहराया और 'क्रीमी लेयर' की अवधारणा दी ताकि सामाजिक न्याय का संवैधानिक उद्देश्य व्यावहारिक रूप ले सके।

नागराज बनाम भारत संघ 2006 इस निर्णय ने पदोन्नति मैं आरक्षण के सम्बन्ध में दिशा–निर्देश देता है इसमें कहा कि राज्य को आरक्षण लागू करने से पूर्व सामाजिक, पिछड़ेपन, अपर्याप्त प्रतिनिधित्व, और प्रशासनिक दक्षता को ध्यान रखना चाहिएबालाजी बनाम् मैसूर राज्य मुकदमा 1963 एवं इन्द्रा साहनी बनाम भारत सरकार नवम्बर 1992 मुकदमें में सर्वोच्च न्यायलय ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि पिछड़े और दुर्बल वर्गों के हितों का सम्पूर्ण समाज के हितों के साथ सामंजस्य आवश्यक है अतः सामान्य तौर पर कोई भी विशेष प्रावधान 50 प्रतिशत से कम होना चाहिए (अधिक नही) कितना पतिशत कम होना चाहिए यह किसी भी मामले की समकालीन परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होगा।[7]

भारतीय संविधान में स्पष्टतः अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जन जातियो के आरक्षण का उल्लेख है अन्य पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण का स्पष्ट आदेश नहीं है। पिछड़े वर्गों को दिया जाने वाला आरक्षण जटिल वाद–विवाद का विषय रहा है जो कि समय–समय पर गठित केन्द्र व राज्य सरकारों के आयोग गठन द्वारा निर्धारित होता है काका कालेकर आयोग 1953, मण्डल आयोग 1979 मुख्य है। राज्य सरकारों ने लगभग 17 आयोग–समितियाँ गठित की जिनका उद्देश्य आरक्षण का आकार एवं आरक्षण का आधार निर्धारित करनाया।

– केन्द्रिय आयोग ने जाति के आरक्षण का आधार मानने की सिफारिश की थी जबकि कर्नाटक, जम्मू–कश्मीर, बंगाल, गुजरात राज्य आयोगों ने आर्थिक स्थिति को आरक्षण का आधार मानने की सिफारिशे की है।

– संविधान अनुच्छेद 340(1) पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्बेषण के लिए राष्ट्रपति आयोग की नियुक्ति करेगा। अनुच्छेद 340(2) में लिखा है कि यह आयोग इनकी स्थिति में सुधार की सिफारिशें करेगा जिन्हें वह उचित समझे।

राष्ट्रपति को संविधान में आरक्षित वर्ग के लिए विशेषाधिकार दिये गये है–

(1) संविधान अनुच्छेद 338 पृ. 94 अनुसूचित जातियों, 130 जन जातियों आदि के लिए विशेष अधिकारी होगा।

(2) विशेष अधिकारी का कर्तव्य होगा कि वह इन जातियों के लिए संविधान के अधिक उपबंधित रक्षोपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करें। रक्षोपायों के कार्य कारण के संबंध ऐसे अन्तरालों पर, राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे, जैसा राष्ट्रपति अनुदेश करें। राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा।

(3) अनुसूचित जाति जनजातियों के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि इसके अन्तर्गत ऐसे अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति निर्देश, जिसे राष्ट्रपति अनु. 340 के खण्ड (1) के अधिक नियुक्त आयोग के प्रतिवेदन की प्राप्ति पर आदेश द्वारा विनिदिष्ट करें। और आंग्लभारतीय समुदाय के प्रति निर्देश भी है।

अनुच्छेद– 339 अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में संघ का नियंत्रण–

(1) राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन/अनुसूचित जातियों के कल्याण के बारें में प्रतिवेदन देने के लिए आयोग की नियुक्ति आदेश द्वारा, किसी भी समय कर सकेगा और संविधान आरम्भ के 10 वर्ष की समाप्ति पर करेगा। आदेश में आयोग की संरचना, शक्तियाँ और प्रक्रिया परिनिश्चित की जा सकेगी उसमें ऐसे आनुषंगिक या सहायक उपबंध समाविष्ट हो सकेंगें, जिन्हें राष्ट्रपति आवश्यक या 339 (2) संविधान संशोधन 7 धारा 29 संघ की

कार्यपालिका शक्ति का विस्तार, राज्यों को निर्देश देने अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निर्देश में आवश्यक बताई गयी स्कीम बनाने व निर्देशन निष्पादन के बारे में हैं।

अनुच्छेद– 340 विछड़े वर्गो की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति

राष्ट्रपति भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर साहित्य और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गो की दशाओं में/कठिनाईयों के जिन्हें व झेल रहे है उन कठिनाइयों को दूर करने हेतु अन्वेषण के उनकी दशा सुधार के लिए संघ/राज्य ने राज्य के उपाय किए जाने चाहिए।

(2) नियुक्त आयोग निर्देशित विषयों का अन्वेषण करेगा, राष्ट्रपति को प्रतिवदेन देगा उसमें वे तथ्य उप वर्णित किए जाऐंगे और जिसमें ऐसी सिफारिश की जाये जिन्हें आयोग उचित समझे।

(3) राष्ट्रपति प्रतिवेदन की एक प्रति, उपर की गयी कार्यवाही को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन संहित संसद के प्रत्येक सदन के अन्तर्गत रखेगा।

आयोगों का गठन संविधान के प्रावधानों से अधिक राजनैतिक दलों की स्वार्थ स्वायं लिप्सा ज्यादा रहे हैं। यह आरोप है कि वोट बैंक की राजनीति का स्वार्थ आरक्षण के अस्थायी समय एवं अन्य पिछड़ो को वोट बैंक बनाने हेतु किया जाता रहा है– कमोबेश सत्ता सुख के भागीदार सभी दल इस मोह से मुक्त नहीं है।

अन्य पिछडे वर्गो का प्रश्न स्वातत्र्योत्तर भारत की आर्थिक नीतियों का परिणाम है। पिछड़े वर्गों के लिए संरक्षण मसला बिहार से आरम्भ हुआ यहाँ हिन्दू जाति व्यवस्था की मध्यम दर्जे की जातियों जैसे (कुर्मी, यादव, कोरी, पवार, गुजर, लोढा) ने स्वयं को एक संघ में गठित कर प्रशासनिक सेवाओं में, उच्च शिक्षा क्षेत्र में आरक्षण की माँग की और 1978 में इन वर्गों को सरकारी नौकरियों में 20 प्रतिशत आरक्षण देना तय किया गया इसके आधारों को सिद्ध करना होगा।

कतिपय इन न्यायिक निर्णयों ने संवैधानिक न्याय के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथापि सामाजिक स्तर पर इनका क्रियान्वयन अभी भी चुनौतियों से भरा हुआ है। सामाजिक न्याय केवल कानूनी व्यवस्था नहीं बल्कि एक नैतिक दर्शन है जो समानता और बंधुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है। दलित प्रश्न का समाधान केवल कानूनों से नहीं, बल्कि समाज की संवैधानिक चेतना के विकास से सम्भव है। जब तक समाज संविधान की भावना को व्यवहार में नही उतारता है तब–तक वास्तविक सामाजिक न्याय अधूरा ही रहेगा।

सप्रसंग यहाँ भी पिछड़े वर्गो में से भी उनकी अग्रिम जातियों में उभरा अभिजन वर्ग ही आरक्षण का अधिसंख्यक लाभ उठा पाया है बल्कि लाभ प्राप्ति का वास्तविक अधिकारी वर्ग आरक्षण के लाभ से आज भी वंचित है अर्थात उसे लाभ प्राप्त नहीं हो पाया हैं।

सभी दलितों को आरक्षण का समान अधिकार छः दशक पश्चात् भी प्राप्त नहीं– (मुस्लिम/ ईसाई दलितों को आरक्षण का लाभ नहीं)

ईसाई धर्म में जाति व्यवस्था नही है एवं इस आधार पर भेदभाव भी नही किया जाता ऐसा धर्मदर्शन है परन्तु भारत में परिस्थिति भिन्न है– भारतीय समाज जाति व्यवस्था पर आधारित है। सभी धर्मो के दलित उसी समाज में रहते हैं जो जातिगत मूल्यों पर आधारित है। उनके साथ अस्पृश्यता का सामाजिक कलंक धर्मपरिवर्तन के पश्चात भी पीछा नहीं छोड़ता। जहाँ तक अत्याचारों का प्रश्न है उसमें बौद्ध व हिन्दू दलितों, मुस्लिम दलितों एवं ईसाई दलितों में कोई अन्तर नहीं है।

यहाँ मैं उस आदेश का उल्लेख करना चाहता हूँ जो 1950 में राष्ट्रपति द्वारा जारी किया गया था इस आदेश के अनुच्छेद तीन में स्पष्ट कहा गया है कि "कोई भी व्यक्ति जो हिन्दू धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म को मानता है, उसे अनुसूचित जाति का सदस्य नहीं माना जाएगा।"

यह आदेश एक धर्म के दलितों को ही आरक्षण की सुविधा तक सीमित करता है – साथ ही सम्पूर्ण दलित समाज को धर्म के आधार पर विभाजित कर देता है। जाति एवं आर्थिक, सामाजिक पिछड़े पन के स्थान के बजाय जातिवं धर्म को आरक्षण से जोड़ा गया है। यह आदेश भारतीय संविधान के अनु. 15(1)(4) एवं 25 का भी उल्लंघन करता है–– अनु. 15– राज्य किसी भी नागरिक के साथ जाति, धर्म, लिंग, जन्म, स्थान या इनमें से किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। संविधान का अनु. 25 ..... सभी व्यक्तियों को अपनी अन्तर्रात्मा के अनुसार किसी भी धर्म को व्यक्त करने का अनुसरण करने का एवं प्रचारित करने की स्वतन्त्रता देता है। अर्थात यह राज्यादेश आदेश एक ही जाति के लोगों में धर्म के आधार पर भेद भाव करता है दूसरी और अन्य धर्मों के दलितों को धार्मिक स्वतंत्रता से वंचित करता है। अगर ये कहाँ जाए कि यह आदेश विशेष धर्म के दलितों को कुछ सुविधाऐं और सुरक्षा प्रदान कर उसी धर्म में बने रहने का प्रलोभन तो नहीं है क्योंकि कोई व्यक्ति अपनी अन्तः आत्मा के आदेश से धर्म परिवर्तन करता है तो उससे उनके ये 'आरक्षण' अधिकार छिन जाते है अर्थात वह दण्डित किया जाता है।

इस आदेश के कारण छुआछूत (अपराध) कानून 1955 व अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निवारण) कानून के परिलाभों से तथा 1976 के नागरिक अधिकारों की रक्षा के कानून के अन्तर्गत सुरक्षा प्राप्ति के अधिकार से वंचित हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी जातीय दंगों में एक हिन्दू दलित स्त्री तथा एक ईसाई दलित स्त्री शील भंग की शिकार होती है तो ये कानून हिन्दू दलित स्त्री की रक्षा तो करेगा पर ईसाई दलित स्त्री की रक्षा के लिए आगे नही आएगा। इस प्रकार यह राज्यादेश 1950 भारतीय संविधान में प्रदत मानवाधिकार तथा संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषण–पत्र का खुला उल्लंघन है जिस पर भारत भी हस्ताक्षर कर वचनबद्धता से बंधा हुआ है।

सर्वोच्च न्यायालय ने मंडल केस 1992 की धारा 271, 400, 469 में स्पष्ट किया है कि– ईसाई दलितों के संविधान सम्मत आरक्षण की सुरक्षा से केवल इसलिए वंचित करना क्योंकि उन्होंने धर्म परिवर्तन किया है, हमारी धर्म निरपेक्षता की धारणा को साथ ही आरक्षण के पीछे की सोच को ही खतरे में डालना है।..... हमारे देश में दुर्भाग्यवश एवं दमनकारी रूप से जाति प्रथा की जड़े इतनी गहरी हैं कि इसने धर्म की दीवारें भी बाँध ली है। जाति प्रथा अन्य धर्मो में भी घुसपेठ कर गयी है अन्य धर्मावलम्बी भी इतने ही कट्टररुढीवादी दिखते है जितने हिन्दू हमें ईसाई दलित, ईसाई नाडर, ईसाई रेड्डी, ईसाई कम्मा, मुजबी सिख आदि देखने को मिलते है।[9] धर्म परिवतर्न जातिप्रथा को समाप्त करने में सफल नहीं हुआ है। धर्म परिवर्तन करने वाले लोग अपनी जाति, व्यवसाय नए धर्म में ले जाते हैं। परिणाम स्वरूप मुस्लिम, सिख, ईसाई धर्म में भी अलग–अलग मात्रा में जाति प्रथा विद्यमान है। जाति प्रथा सम्पूर्ण भारतीय समाज की आधार शिला है।

यद्यपि ईसाई भारत में अल्पसंख्यक है (2.4 प्रतिशत) किन्तु इनमें से अधिकांश 65 प्रतिशत दलित वर्ग के है। उनका सामाजिक–आर्थिक स्थिर भारत के अन्य दलितों से भिन्न नहीं है। ध्यान रखने की बात यह है कि 1950 के राष्ट्रपति आदेश को दो बार संशोधित किया गया (1956 व 1990), 1956 में इसमें सिख दलितों को तथा 1990 में नव बुद्ध दलितों को इसमें समाविष्ट किया गया। परन्तु ईसाई दलितों को न्याय आज तक प्राप्त नही हुआ। जबकि अल्पसंख्यक आयोग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति संसदीय फोरम (1992, 17 जून) के न्यायिक निर्णयो ने ईसाई दलितों के खिलाफ भेदभाव समाप्त करने का मन्तव्य स्पष्ट किया है।

UPA सरकार को संसद में बिल पेशकर ईसाई, मुस्लिम दलितों को न्याय दिलाने का नैतिक दायित्व

उठाना चाहिए क्योंकि दलितों के एक वर्ग को विकास की प्रक्रिया से बाहर रखना, उनकी विकास प्रक्रिया पर प्रतिकूल असर डालेगा तथा राष्ट्र व संविधान पर भी एक कंलक आरोपित होगा।

निष्कर्ष–

आरक्षण पर आधारित विशेष संरक्षण के बावजूद अनुसूचित जातियों जनजातियों का प्रतिनिधित्व उनकी संख्या के अनुपात में काफी कम है। आठ दशक से जारी आरक्षण व्यवस्था ने दलितों के विकास में योगदान दिया है परन्तु प्रगति संतोषजनक नहीं है। कानूनी संरक्षण के बावजूद भी अस्पृश्यता और जातिय दुर्भावना की घटनाऐ पूर्णतः समाप्त नही हो सकी है। कही–कही तो दुर्भावनाओं ने जातीय हिंसा का भयंकर रूप धारण कर लिया। अनुसूचित जाति/जनजातियों में एक अभिजात्य वर्ग उभरा है जिसने दलितों के नाम पर लाभ अर्जित किये है परन्तु अपने ही भाईयों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह सही अर्थो में करने की कभी इनमें देखी जा सकती है।

दलित वर्ग में संघर्ष की प्रवृति जैसे–जैसे बढ़ रही है वैसे ही इनपर अत्याचारों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। आरक्षण की समय सीमा बढ़ाते जाने के कारण सामाजिक विरोध, मनोवैज्ञानिक आक्रोश बुद्धिजीवियों के मध्य विभाजन रूप में दृष्टि गोचर होता है।

आरक्षण से निरन्तर सामाजिक पिछड़ेपन का बोध होता है। वस्तु स्थिति बनाए रखने के निहित स्वार्थ उत्पन्न व मजबूत ही होते रहे है आरक्षण की वर्तमान नीति सभी दलितों को समान रूप से समाज को समायोजित करने की अपेक्षा और अधिक विभाजक ही बनाया है। देश की राजनीति, व्यवस्था, लोकतंत्र की संसदीय प्रणाली ने दलितों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने, जातिय व्यवस्था को समाप्त करने में असफल रही है। जाति व्यवस्था सुदृढ़ हुई है, जातियों में उपजातियों की स्पष्ट रेखाऐ दिखाई देने लगी है। जाति गत नेतृत्व, जाति के संकीण स्वार्थों हितों को संरक्षित, संवर्द्धित समायोजित कर कटता की दिशा में बढ़ रही है जातियों का राजनीतिकरण राजनीति का जातिकरण हुआ हैं जो राष्ट्रीय एकता, लोकतंत्र के प्रति खतरे का निशान है। जातिय चेतना, सुदृढ़ हुई है जिन वर्गों में जाति प्रभावी नही थी उनमें भी जातीय बीज तीव्र गति में बढ़ रहे है सम्पूर्ण वर्ग आरक्षण व्यवस्था का लाभ स्वयं उठाने के रास्ते तलाश रहा है।

आरक्षण के साथ–साथ सामाजिक मानसिकता और संस्कृति में भी बदलाव आवश्यक है। वैश्विकरण और उदारीकरण के दौर में नीजी क्षेत्रों के बढ़ते प्रभाव के मध्यनजर आरक्षण व्यवस्था क्या प्रभावी रह पायेगी। आठ दशक से जारी आरक्षण व्यवस्था अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रही है क्या अब वह लक्ष्य और उद्देश्य प्राप्ति में सफल हो सकेगी।

आरक्षण का अंतिम उद्देश्य जाति व्यवस्था को समाप्त कर एक समतावादी समाज की स्थापना करना था। पिछड़ी जातियों में से कुछ अपेक्षाकृत खुशहाल जातियों की स्थिति मजबूत कर उन्हें उच्च जातियों की बराबरी पर लाना नही है। अपितु पिछड़ों को उठाना है।

देश में जारी आरक्षण व्यवस्था जातिय विभाजनकारी विभेद को खत्म करने में असफल ही नही असमर्थ भी सिद्ध हुई है जातियों में सुदृढ़ता, संकीर्णता, द्वेष बढ़ा है– जाति से केवल राजनीतिक निहित स्वार्थ उत्पन्न और सशक्त हुए है। जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त घातक है। जातिय हिंसा दुर्भावना की समाप्ति जातियों के स्थान परिवर्तन से सम्भव नहीं है अपितु सभी जातियों के समान विकास में निहित है।

आरक्षण व्यवस्था पर पुन विचार की तथा आरक्षण से अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग का उत्थान, प्रभाव, दुष्प्रभाव का विश्लेषणात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। क्या दलितों का उत्थान हो रहा है? क्या

इस व्यवस्था में निरन्तर सामाजिक पिछड़ेपन का बोध होता है? वस्तु स्थिति बनाए रखने के निहित स्वार्थ मजबूत ही होते रहे है। क्या सवर्ण विद्वान दलितों पर जो छाप रहा है उससे प्रशन्न उठते है? क्या दलित सवर्ण की पीड़ा, दर्द को समझते है? क्या सवर्ण दलितों की पीड़ा को समझ रहे हैं। क्या दलितों पर होने वाले शोध, दलित साहित्य, समाज को नई दिशा दे रहे है या सामाजिक व्यवस्था के ढांचे को घृणा, द्वेष, ईर्ष्या को हवा दे रहा है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सवर्ण और दलित की समझ में परिवर्तन की गुहारती आवाज का क्या अर्थ है।

दलित वर्ग से सहानुभूति तो है परन्तु गम्भीर चिंता नही दिखती ना ही समस्या समाधान का वास्तविक चिन्तन बल्कि प्रतिक्रियात्मक चिन्तन बढ़ रहा है। तटस्थ विश्लेषणों का अभाव रहा है।

स्वतन्त्र्योतर भारत में समाजवाद, आर्थिक विकास, दलितोद्वार, बेरोजगारी समाप्ति, गरीबी उन्मूलन के नारे लगाए जाते रहे है परन्तु गैर बराबरी को दूर करने की इच्छा का वास्तविक क्रियान्वयन कम ही देखा गया। अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए ही ये श्लोकांश गढ़े गये है। अधिकांश दलित व्यज्य समूह मात्र संदर्भ रहे है। दलित आवाजे और दलित समूह मात्र इन सदयों के उदाहरण। सर्वणों को दलितों का शोषण कर्ता, दलित का अपमान करता, हिन्दू धर्म साहित्यों पर आरोप प्रत्यारोपड़ का कार्य जारी है। इतिहास में किये गये अन्याय की सजा/दण्ड वर्तमान में उत्पन्न उनकी पीढ़ियों को दिया जाना कहा तक न्याय संगत और समीचीन है।

दलित जातियों की जातिवाद समाप्ती के लिए, वैचारिक क्रांति समन्वय संस्कृति, सहयोग दृष्टि से कार्य करना होगा। सर्वण व दलित के मोह जाल (पूर्वाग्रह) से बाहर आकर अपनी स्वेच्छा से जुड़ना होगा। इस जुड़ाव को विवशताओं और मजबूरियों के चलते जुड़ने के स्थान पर लोकतन्त्र के वास्तविक सत्य को स्वीकारते हुए मानव विकास के लिए, राष्ट्रीय उत्थान के लिए मानवता के लिए दोनों वर्गों को प्रतिरोध के स्थान पर सहयोग करना आवश्यक है।

अगर एक पक्षीय दृष्टिकोण लेकर चला जावेगा तो न तो स्वयं का न समाज व राष्ट्र का हित होगा बल्कि विभाजन की रेखाऐं बढ़ेगी। बुद्धिजीवि वर्ग का कार्य तो समस्या समाधान में है न कि नूतन समस्याओं को निर्मित करने में। सकारात्मक सोच की आवश्यकता है, देश का विश्व राष्ट्रों के शिखर पर पहुँचने का स्वप्न तभी सार्थक होगा। संविधान के मंतव्यों को समझ, मानवता व संविधान की दिशा में ईमानदारी से बढ़ना आज की आवश्यकता है।

भारतीय संविधान अनु. 34 के अनुसार अनुसूचित जाति/जनजातियाँ अथवा जनजातीय समुदायों के भाग अथवा भीतरी समूह हैं जिन्हें राष्ट्रपति सार्वजनिक सूचना के माध्यम से परिधोषित करेंगे।

***राजनीति विज्ञान विभाग**
राजकीय महाविद्यालय
झालावाड़ (राज.)

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. **बेरेन राय :** इण्डिया : नेचर ऑफ सोसायटी एण्ड प्रजेन्ट क्राइसिंस, नई दिल्ली इन्टेलेक्च्वेल बुक सेन्टर, 1983, पृ. 114–134
2. विष्णु पाण्ड्या : असमानता के क्षितिज : गुजरात आंदोलन, मंथन वर्ष 4 अंक 2 फरवरी 1990 पृ. 83–85

3. रूपचन्द : रिजर्वेशन पोलिसी, मंडल कमीशन एण्ड ऑफ्टर, नई दिल्ली स्टेलिंग पब्लिसर्श, 1992, पृ. 89–128

4. संविधानसभा वाद–विवाद वोल्यूम–7 पृ. 701–02, नई दिल्ली

5. भारत सरकार : भारत का संविधान, 1992– पृ. 14

6. वही, पृ. 94

7. AIR, 1963 Sc 649, 663, एवं मंथन वर्ष 4 अंक 2 Feb. 1982 पृ. 73, लेख श्यामसुंन्दर गुप्त 'न्यायालयों में आरक्षण युद्ध' 16 नं. 1992– इन्द्रा साहनी केस विनोद प्रसाद सिंह (सम्पादक) आरक्षण, दिल्ली 1992, समता पुस्तक केन्द्र पृ. 9.22.

8. भारत सरकार– भारत का संविधान – 1992 पृ. 5 एवं 8

9. जजमेन्ट टुडे; मंडल केस दे खण्ड 6 अंक 9 पृ. 367, 469.

अन्य पुस्तकें

1. बी.पी आप्टे; आरक्षण नीति हमारा संविधान, मंथन वर्ष 4 फरवरी, 1982

2. ए. एन. भारद्वाज ; अस्पृश्यता एवं मानवता, दिल्ली, किताब घर, 1987

3. भारत सरकार लोकसभा, सचिवालय का प्रकाशन, अनुसूचित जातियों/जन जातियो का कल्याण, 1986 नई दिल्ली

4. अनिरुद्ध प्रसाद; आरक्षण सामाजिक न्याय एवं राजनैतिक संतुलन, रावत पब्लिकेशन 1991

5. जे. पी. कुरील ; मंडल आयोग रिपोर्ट ए सिफारिशें लखनऊ, समता साहित्य प्रकाशन, 1990

परिचय उद्देश्य पद्धति, कार्य विधि, न्यायिक निर्णयों के अनुच्छेदों का विश्लेषण केस स्टडी (उना, हाथरस, गुजरात) निष्कर्ष संदर्भ सूचित समाविष्ट है।